ॐ

समाधिशतक–एक दिव्य दृष्टि

पद्मश्री पं. सुमतिबाई शहा, संचालिका, श्राविका विद्यापीठ, सोलापूर

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम् ।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्त्ववित् ॥

जैनेन्द्रप्रक्रियायां गुणनन्दी ।

पार्श्वभूमि

जैन–साहित्य में दर्शन–साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। वहां अध्यात्म को विशद करनेवाले ग्रन्थों की कोई कमी नहीं है। आत्म दर्शियों ने परम–तत्व के चिन्तन द्वारा बहुत ही सरस एवं सुंदर विचारों का प्रतिपादन किया है। इस अध्यात्म-विषयक ग्रन्थों में जब मैं सोचती हूं तब मेरा ध्यान आ० पूज्यपाद द्वारा रचित समाधि तन्त्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है। मुझे इस बात का गौरव प्रतीत होता है कि समाधि–शतक इस ग्रन्थ ने जनसाधारण के लिए अपनी सरल एवं हृदयग्राहिणी शैली द्वारा आत्मरस की जो सरिता प्रवाहित की है, गत कई वर्षों के इस महान ग्रन्थ के रसास्वादन के उपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर आयी हूं कि इस आकार से लघु एवं विचारों से महान यह ग्रन्थ अध्यात्म–प्रेमियों को एक नवीन एवं दिव्य दृष्टि प्रदान करने में बडा उपयोगी है। इस लेख के माध्यम से वह तथ्य मैं प्रस्तुत करना चाहती हूं। अध्यात्म तो जीवन का नवनीत है, जिसे प्राप्त करना जीवन का महत्तम साध्य है।

आचार्य पूज्यपाद का कृतित्व

आचार्य पूज्यपाद एक प्रभावशाली, विद्वान, युगप्रधान योगीन्द्र थे। उनका जीवन एक साहित्य-कार का जीवन था। जहां उन्होंने सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्र–व्याकरण जैसे महान् प्रमाणभूत ग्रन्थों का निर्माण किया है, वहां उन्होंने इष्टोपदेश, समाधितंत्र जैसे श्रेष्ठ अध्यात्म ग्रन्थों का निर्माण भी किया है। ऐसा माना जाता है कि समाधि–शतक की रचना ग्रन्थकार के जीवन की अन्तिम कृति है। साहित्य के सर्व क्षेत्रों में प्रविष्ट होने के अनन्तर ग्रन्थकार का धवल यश यदि किसी ग्रन्थ ने बिखेर दिया हो तो वह ग्रन्थ समाधि–शतक ही हो सकता है। भाषा एवं विचार की मधुरिमा से स्वाध्याय में अनुरक्त के मन में हमेशा ही अध्यात्म की शहनाई गुञ्जने लगती है। वह आत्मदर्शी रसिक प्रफुल्लित कमलिनी से निःसृत पराग के प्रवाह भ्रमर के समान आत्मानंद में विभोर हो जाता है, तल्लीन हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय सभी विचारकों ने आत्मा को एक गूढ तथा जटिल तत्त्व माना है। अतः आत्म-ज्ञानी रसिक के लिए यह विचारणीय बात बन जाती है, आत्म-तत्त्व का निरूपण करने में कितनी सरल एवं सरस पद्धति का अवलम्बन किया है। इस दृष्टि से समाधितन्त्र की निर्मिती सुन्दरता एवं सरलता से परिपुष्ट है।

इस ग्रन्थ के निरन्तर अध्ययन एवं स्वाध्याय द्वारा मुझे इसमें इस विशेषता का अनुभव हुआ है कि पूज्य आचार्यजी ने संसारी दुःखी मानव की चिरन्तन, नित्य एवं चैतन्यरूप अध्यात्म तत्त्व की ओर आकृष्ट करने के लिए प्रथमतः **भेद-विज्ञान** का निरूपण किया है। भेदविज्ञान ही नहीं भ्रम का निरास करके आत्म-ज्ञान की निर्मिती में समर्थ है। शास्त्र के अध्ययन से अन्तरंग आत्मरस के प्रति-जागृति अवश्य होती है। इस ग्रन्थ में आचार्यजी ने आत्मा की उन्नति की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण किया है। वह अतीव सुन्दर, मधुर एवं प्रसादमय है। अतः शाश्वत आनंद एवं शान्ति का उद्गम माना जाता है।

आत्म-विचार

आचार्य पूज्यपाद ने आत्मा का विवेचन यहां बडी रोचकता से किया है। मोक्ष-मार्ग के कथन में बडे उपयोगी दृष्टान्त की योजना की है। वह इस प्रकार है—

बहिरात्मा—'मोक्ष-मार्ग' में जिस तत्व का कथन किया है उसे बहिरात्मा यथार्थ रूप से नहीं जानता। दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय में वह जीव में अजीव की तथा अजीव में जीव की कल्पना करता है। दुःख देनेवाले राग--द्वेषादि विभावों को वह सुखदायी समझता है। बहिरात्मा आत्म-तत्त्व से परावृत्त होकर कैसे संसार की गर्ता में पडता है इसका तर्कबद्ध वर्णन आ० पूज्यपाद ने इस ग्रंथ में किया है। बहिरात्मा की दृष्टि मुखी होती है। मनुष्य का शरीर प्राप्त करने पर वह अपनी आत्मा को मनुष्य मानता है, तिर्यंच गति में यदि जन्म हुआ तो स्वयं को तिर्यञ्च मानता है, परन्तु इस बात को नहीं जानता है कि ये कर्मोपाधि से होते हैं। स्वभाव दृष्टि से आत्मा का इन अवस्थाओं का कोई भी संबंध नहीं। आगे चल कर आचार्य कहते हैं कि वह अपने शरीर के साथ स्त्री-पुत्र मित्रादिक के शरीर से अपना संबंध जोडता है। इस लिए वह उनको उपकारक मानता है, उनकी रक्षा का प्रयास करता है। उनकी वृद्धि में अपनी वृद्धि मानता है, यह मूढात्मा इनमें व्यर्थ ही निजत्व की बुद्धि होने से आकुलित होता है। वह शरीर को ही आत्मा मानता है इस लिए जबतक इस देह में आत्मबुद्धि नहीं छुटती तब तक निराकुल निजानन्द रस का आस्वाद नहीं होता। संयोग-वियोग में हर्ष विषाद करता है व संसार बढाता है। संसार दुःख का मूल कारण यह देहबुद्धि ही है। कहा है कि—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिर्व्यापृतेन्द्रिया॥

आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना हो तो आचार्यजी ने मानव की व्यावहारिक भूमिका का विचार कर यह सूचित करने का प्रयत्न किया है कि बाह्य जल्प का त्याग कर अन्तरंग जल्प को भी पूर्ण छोडना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहां आचार्यजी ने समाधि या योग शब्द प्रयोग किया गया है। योग का अर्थ है कि जहां अन्तरंग जल्प को हटाकर उपयोग की आत्मा में एकाग्रता का संपादन किया जाता है। ऐसा योग ही परमात्मा का प्रकाशक है अर्थात इन्द्रिय प्रवृत्ति से हट कर निजस्वरूप में लीन होना व शुद्धरूप का साक्षात्कार करना ही समाधि है—

एष योगः सभासेन प्रदीपः परमात्मनः।

आचार्यजी ने इस बातका विवेचन बडे पद्धति से किया है। हम जहाँ बात करते हैं, वह इन्द्रियों के माध्यम से। जो जानने वाला है वह दिखाई नहीं देता तथा जो रूप दिखाई देता है वह चेतनारहित होने से कुछ भी नहीं जान सकता है अतः मैं किससे बात करूँ? यह समझना भी हमारी मूर्खता है कि हम किसी को आत्मतत्व समझाने का प्रयत्न करते है या किसी के द्वारा स्वयं समझने का प्रयास करते हैं। यह तो उन्मत्त पुरुष जैसा व्यवहार कहा गया है।

अतः जब तक इस जीव को शुद्ध चैतन्य रूप अपने निज-स्वरूप की प्राप्ती नहीं होती तब तक ही यह जीव मोहरूपी गाढ निद्रा में पडा हुआ सोता रहता है। परन्तु जब अज्ञानभावरूप निद्रा का नाश होता है तब शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होती है।

समाधि की प्राप्ती

समता ही समाधि का प्रमुख स्रोत है। आत्मज्ञानी विचार करता है कि शत्रु मित्र की कल्पना परिचित व्यक्ति में ही होती है। आत्मस्वरूप को न देखनेवाला यह अज्ञानी जीव न मेरा शत्रु है, न मित्र है, तथा प्रबुद्ध प्राणी न मेरा शत्रु है न मित्र। इसलिए इसका विचार कर 'सो-हं'-अनन्तज्ञान रूप परमात्मा ही मैं हूँ, इस संस्कार की दृढता से ही चैतन्य की स्थिरता प्राप्त होती है। स्थिरता से समत्व प्राप्त होता है। आत्मा की शरीर से भिन्नता की अनुभूति निर्वाण पद की आधारशिला है।

मुक्ति का मार्ग

आचार्यजी ने मुक्ति प्राप्त करने के लिए जो सुगम उपाय बताए हैं वे वास्तविक हमें स्वच्छ दृष्टि प्रदान करने में समर्थ हैं। मनरूपी जलाशय में अनेक राग-द्वेषादि तरंग उठते हैं, जिस वस्तु का स्वरूप स्वच्छ नहीं दिखाई देता है, सविकल्प वृत्ति के द्वारा आत्मा का दर्शन नहीं होता। वास्तव में निर्विकल्प अंतःतत्त्व ही आत्मतत्त्व है।

अनुभूति में मान-अपमान के विकल्प वहां नहीं होते, अतः इन्द्रियों के संयोग से निर्माण होनेवाले विकल्प ज्ञानी को छोडना चाहिए।

भेद विज्ञान आवश्यक

शरीर में आत्मदृष्टि रखनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को यह विश्व विश्वास करने लायक लगता है। वह उसे ही सुन्दर मानता है। परन्तु आत्मदृष्टि सम्यग्दृष्टि को यह जगत स्त्रीपुरुषादि पर पदार्थों में विश्वास उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उसकी आसक्ति उन में नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनासक्त अन्तरात्मा यह विचार करता है कि जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हूं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, परंतु इन्द्रियों का संयमित स्वरूप है। अविद्यारूप इस भौतिक अवडम्बर को त्याग कर वह विद्यामय ज्ञान–ज्योति में प्रविष्ट होता है। मूढात्मा व प्रबुद्धात्मा के प्रवृत्ति में बडा अन्तर होता है। मूढात्मा बाह्य पदार्थों में रत होता है। प्रबुद्धात्मा इन्द्रिय व्यापार को हटाकर अपने आत्मस्वरूप में लीन होता है। वस्त्र फटा तो आत्मा को वह वैसा नहीं मानता अथवा वस्त्र जीर्ण हुआ या नष्ट हुआ तो आत्मा को वैसा नहीं मानता है। निस्पन्दात्मा, वीतरागी वह शान्ति–सुख का अनुभव करता है। अतएव जिसके चित्त में अचल आत्मस्वरूप की धारणा है उसे मुक्ति प्राप्त होती है। आचार्यजी का यहां तक कथन है कि जो लोक व्यवहार में सोता है वह आत्मा के विषय में जागता है—अनुभव करता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्मा के विषय में सोता है। इस प्रकार आत्मजागृति ही वास्तविक जागृति है। जटाधारी तपस्वी होकर शरीराश्रित होने से वह संसार की वृद्धि करता है। बाह्य वेष से मुक्ति प्राप्ति होती है यह मानना हठ है। जहां त्याग की आवश्यकता है वहां भोग की कल्पना कैसे की जा सकती है—अतएव द्वेषबुद्धि उत्पन्न होती है।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्रमोहिनः॥

अतएव अभिन्न आत्मा की उपासना श्रेष्ठ है। अन्तरात्मा को प्राप्त कर ही एकमेव आत्ममय परमतत्व प्राप्त हो जाना है। वह उपादेय है। भगवान् परमात्मा शक्ति रूप से वास्तव में अपने स्वरूप में विद्यमान है, उसे बाहर अन्वेषण करने की कोई आवश्यकता नहीं। अन्तरात्मा उसे खोजकर बहिरात्मता छोडकर उसकी उपासना द्वारा भगवान् परमात्मा को प्राप्त करता है। परमात्मतत्त्व उपास्य, ग्राह्य है, आराध्य है तथा अन्तरात्मतत्त्व उपासक साधक है। बहिरात्मता तो हेय, त्याज्य है।

निष्कर्ष : दिव्यदृष्टि की प्राप्ति

इस प्रकार मैंने इस ग्रन्थ का गत कई वर्षों से आलोढ़न–मनन–चिन्तन किया व तदुपरान्त मैंने यह अनुभव प्राप्त किया है कि संसारी दुःखी मानव को आत्मा का स्वरूप प्राप्त करना हो तो उसे भेद–विज्ञान की आवश्यकता है। तदनन्तर ही आत्मा में आत्मा लीन कर परमात्मा की अवस्था प्राप्त होती है। आत्म–स्वरूप को कैसे प्राप्त हो यह ग्रन्थकार ने अतीव सरल सरस पद्धति से प्रतिपादित किया है। इस दृष्टि से समाधिशतक एक ऐसी महान कलापूर्ण (अध्यात्म–कला) रचना है जहां आचार्य प्रवर ने अध्यात्म जैसे गूढ एवं गंभीर विषय को बडी रोचकता से प्रतिपादित किया है। आत्मदृष्टि की प्राप्ति करना ही नई ज्योति प्रदान करना है। यह दिव्य दृष्टि प्रदान करने में समाधिशतक इस महान अध्यात्म ग्रन्थ का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान है। यह बात स्वानुभाव से ही प्रतीत हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org